Chapter-4

चतुर्थ अध्याय :

संवेदना के धरा पर
गीतों एवं नवगीतों का विश्लेषण

चतुर्थ अध्याय :

संवेदना के धरा पर गीतों एवं नवगीतों का विश्लेषण

कविता की मूल पहचान को व्यक्त करने वाले दो प्रमुख तत्व हैं - संवेदना और संप्रेषण, संवेदना जितनी अधिक साधारणीकृत, सहज, और व्यावहारिक होगी कविता में संप्रेषण उसी के अनुरूप समन्वित होता है। संवेदना काव्य का मूल आकर्षण है और यह आकर्षण कवि द्वारा संयोजित संवेदनाओं के विविध पक्षों से संपादित होता है।

संवेदना को यदि सहज ढंग से व्यक्त किया जाय तो कहा जा सकता है-मानवीय प्रकृति की वे सहज अन्तर्भावनाएं जो प्रत्येक व्यक्ति में अनुभूतगत प्रकृति से समन्वित रहती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति जब अपनी अन्तर्मुखी संचेतनाओं को सामान्यीकृत करके कविता में संप्रेषित करता है तो वे ही संप्रेषित अंतर्भावनाएँ कविता की संप्रेषण शक्ति को तीव्र करती हैं। इन संवेदनाओं के मानदण्ड, देशकाल परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित भी हुए है और परिवर्धित भी हुए है । आज की वैश्वीकृत संस्कृति ने या उपभोक्ता वादी बाजारवाद ने व्यक्ति को बहुत ही बहिर्मुखी, यथार्थवादी और उपभोक्तावादी बना दिया है। इस तरह वह अत्यधिक आत्मकेन्द्रित होता चला गया है। टूटते परिवार, बिखरते रिश्ते और अकेला पड जाने की व्यक्ति की सामायिक सोच ने मूल संवेदनाओं की जमीन ही जैसे हिलाकर रख दी है। यदि हम पूर्वकालीन कविता के अंतरस्वरों को परखे या अनुभव करें तो ज्ञात होता है संपूर्ण मध्यकालीन काव्यसंचेतना के केन्द्र में यही संवेदना का स्वर प्रमुख रहा है।

संवेदनाएँ दो प्रकार की होती हैं -

आत्मनिष्ठ और बहिरसंबंध सापेक्ष। आत्मनिष्ठ संवेदनाओं में व्यक्ति के स्वयं के अलावा आत्मिक भावावेश, उद्वेग, उन्माद, आनंद, हर्ष, शोक, द्वेष आदि भावात्मक विकारों के अनुरूप संवेदनाएँ उपजती हैं और अनुकूल वातावरण में विस्तार ग्रहण करती हैं और सीमित भी हो जाती हैं। बहिरसंबंध सापेक्ष संवेदनाएँ आत्मीय स्नेह सूत्रों पर तथा अपने अन्यान्य निजी संबंधों पर आधारित होती हैं। परिकर के अतिरिक्त परिवेश जन्य भावात्मक संवेदनाएँ भी रचनाकार को संप्रेषित करती हैं और साहित्य में उनकी सन्निहित संप्रेषण का आधार बन जाती है।

बहिरसंबंध सापेक्ष पारिवारिक, आत्मीय संवेदनाओं में माँ, पिता, बेटी, भाई, बहन, दादा, दादी के अतिरिक्त मित्र, प्रेमी, सहचर, सहकर्मी, सहपाठी, सहयात्री, सहवासी आदि संबंध इन संवेदनाओं को उकेरते हैं। परिवेश जन्य संवेदनाएँ प्रकृति से संप्रेषित होती हैं। इनमें नदी, पहाड़, जंगल, गाँव, नगर, घर, वृक्ष, फूल, उपवन, बादल, बरसात, बिजली, आकाश, हवा, सुगन्ध जैसे प्रकृति जन्य उपकरण समाविष्ट हैं।

हिन्दी कविता में संप्रेषण का मूलाधार अधिकांशतः मानवीय संबंधों एवं प्रकृति जन्य परिवेश पर ज्यादा आधारित रही हैं। आदिकाल में युद्ध के उन्माद, शौर्य और वीरत्व का प्रदर्शन तथा आत्मश्लाघा और आत्म प्रशंसा के उद्वेगों के कारण भी व्यक्ति अपनी निजी संवेदनाओं को व्यक्त करता रहा है। इसी क्रम में भक्ति एवं शृंगारकाल में भी वात्सल्य, संयोगशृंगार, वियोगशृंगार, स्वकीया एवं परकीया नायिकाएँ आदि के संदर्भ में भी व्यक्ति के आंतरिक प्रणय द्वारा उद्वेलित संवेदनाओं का विस्तार देखा जा सकता है। आधुनिक काल में इन आंतरभावनाओं में सन्तिनष्ठ संवेदना के स्तर पर गरीबों, दलितों, अछूतों, अभावग्रस्त लोगों, पीड़ित एवं परेशान समाज की इकाइयों, सर्वहारा वर्ग के समुदायों एवं समाजद्वारा बहिष्कृत लोक-वर्गो को इसमें समाविष्ट किया जा सकता है।

निराला कहते हैं -

वह आता/वह आता/दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता / पेट पीठ

दोनों मिलकर हैं एक / चल रहा लकुटिया को टेक / मुँह फटी-पुरानी झोली को फैलाता..... वह आता वह आता।

मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं -

आँचल में है दूध और आँखों में पानी।
अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी॥

नरोत्तमदास के सुदामा चरित्र में यही स्वर व्यक्त हुए हैं। जैसे -

धोती फटी सी लटी दुपटी / अरुँ पांय उपायन की नहिं सामा / द्वार खड़ौ द्विज दुर्बल बतावत आपनौ नाम सुदामा॥

आधुनिक कवियों में माहेश्वर तिवारी लिखते हैं -

''धूप में जब भी जले हैं पाँव, घर की याद आयी।''

कुँवर बैचैन कहते हैं -

''इस नगर में अब नहीं लगता हमारा मन
चलो हम गाँव के भूखे-अभागे दोस्तों के बीच रह लेंगे।''

इस तरह संवेदनाएँ मानवीय हृदय की वे उदात्त कोमल सद्भावनाएँ हैं जो रचनाकार को भीतर तक आन्दोलित करती हैं और जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी कृति पर पड़ता है। यहाँ हम कुछ रचनाकारों की कृतियों का इस सन्दर्भ में विश्लेषण कर रहे हैं। नवगीत की जमीन इन्हीं संवेदनाओं पर आधारित है।

नवगीत की जमीन मूल रूप से मानवीय संवेदनाओं की औदार्यमयी बुनियाद पर टिकी हुई है, जहाँ व्यक्ति अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को सामाजिक परिवेश से संयुक्त बनाकर व्यष्टि से समष्टि की यात्रा तय करता है। वैसे तो यह आधार छायावादी प्रकृति में भी विद्यमान है किन्तु छायावाद में संवेदनाओं का परिवेश केवल वैयक्तिक था। हिन्दी नवगीत की कड़ी जन-साधारण की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई है अर्थात ग्राम्यांचलिक परिवेश की समष्टिगत सांस्कृतिक निर्धारणों से संलग्न है, इस कारण यह

छायावादी अवधारणाओं से भिन्न हो जाता है।

मनुष्य की वैयक्तिक के संवेदनाएँ नवगीत में सम्पूर्ण यथार्थता के साथ व्यक्त हुई हैं।

फिर फूले कचनार
प्रिया, तुम बिन फूले कचनार।
द्वारे फूला है कदम्ब
पिछवारे फूला आम
आँगन फूला गुलाबाँस
अन्तर्मन तेरा नाम
डाल-डाल औ पात-पात
गिन-गिन फूले कचनार।[1]

नवगीतकार कुमार शिव के एक नवगीत की निम्न पंक्तियाँ देखें जो उपर्युक्त कथ्यों से पुष्टि करती हैं -

''बहिना की शादी में
रेहन रख दिया था जो
कर्ज में डूबा आकण्ठ वह मकान
मांडने कढ़ा हुआ।
अम्मा के भजनों को
टेरता रहेगा अब
कमरा पूजा वाला।
और मकड़ियों के
जालों से पुर जायेगा
ठाकुर जी का आला।
दुहरायेगा मेरा तुतलाया बचपन
तुलसीवाला अंगना

माटी में जिसकी मैं

खेलकर बड़ा हुआ।''[2]

नवगीत में वैयक्तिक पीडाओं को जहाँ संवेदना के स्तर पर व्यक्त किया गया है, वहाँ प्रतीकों का साहचर्य भी उसी स्तर पर एक निश्चित वातावरण की सृष्टि करता है। यथा-

''थर थराते हैं नदी के पाँव

पर्वत काँपते हैं

पीठ पर कोड़े उगाये

डाकिये खत बाँटते हैं।

एक जहरीली हवा की साँस ने

जब से छुआ है

हो गई धरती धुँआ घर

हर शहर जंगल हुआ है

आदतन बौने सिपाही

हर सुबह को डाँटते हैं।''[3]

या फिर -

''क्या हमें जो दर्द हरकारा बने,

चिलचिलाती धूप में पारा बने।

हम पिघलने के सिवा क्या जानते ?

झील चाँदी की बने, धारा बने।

भिश्तियों की पीठ से

बँटते रहे।''[4]

कुमार रवीन्द्र ने इस व्यथा कथा को एक अलग अंदाज में ही प्रस्तुत किया है

''दिनभर की गाथायें

सुनकर

हम दुख की झील हो गये।
दृष्टि-दृष्टि पथरायी
सन्नाटे -
माथे पर गड़ी हुई कील हो गये,
उम्र की कथाओं में
कितने अध्याय हैं
व्यथाओं के।
यादों में है कई-कई सलीब
मूर्च्छित संध्याओं के।
अर्थहीन सुख के
समझौते से
सपने अश्लील हो गये।''[5]

नवगीत का चरित्रनायक एक आदमी है, जो थका, हारा, टूटा हुआ, रोजी-रोटी के लिए संघर्ष करता हुआ, राजनीति से टक्कर लेता हुआ, समाज के ठेकेदारों से जूझता हुआ, गाँव के ठेकेदारों चौधरियों तथा जमीदारों से मोर्चा लेता हुआ और जगह-जगह अपनी बाध्यताओं से पराभूत हो जाता है -

''हाथों में लेकर
बैठा हूँ
कागज के टुकड़े
टुकड़े जिनके
नाम लिखे हैं
खेत और खलिहान
टुकड़े जिनके
नाम लिखे हैं
टूटे हुए मकान

करते रहे
चोट हम लेकिन
पाँव नहीं उखड़े।''[6]

इसी प्रकार से -

''नीम तरु से फूल झरते हैं,
तुम्हारा मन नहीं छूते,
बड़ा आश्चर्य है।
रीझ सुरभित
हरित वसना घाटियों पर
व्यंग्य से हंसते हुए
परिपाटियों पर
इन्द्रधनु सजते-सँवरते हैं
तुम्हारा मन नहीं छूते,
बड़ा आश्चर्य है।''[7]

संवेदनाएँ सुखद भी हो सकती हैं, दुखद भी और तटस्थ भी। किन्तु इन तमाम स्तर पर गीतकार स्वयं कहीं तटस्थ नहीं रहता। प्रसंग चाहे श्रृंगार का हो, प्रकृति का हो या नारी का अथवा प्रेम का, वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर वह अपनी उदात्त परिकल्पनाओं से जो बिम्ब स्थापित करता है, उसमें कहीं न कहीं संवेदनशील आत्मकथ्य अवश्य होता है -

''कर दिए लो आज गंगा में प्रवाहित
सब तुम्हारे पत्र, सारे चित्र
तुम निश्चिंत रहना।
धुंध डूबी घाटियों के इन्द्रधनु तुम
छू गया नभताल, पर्वत हो गया मन
बूंद भर जल बन गया पूरा समन्दर
पा तुम्हारा दुख, तथागत हो गया मन।

अश्रुजन्मा गीत कमलों से सुवासित
यह नदी होगी नहीं अपवित्र
तुम निश्चिंत रहना।

दूर हूँ तुमसे न अब बातें उठेंगीं
मैं स्वयं रंगीन दर्पण तोड़ आया,
वह नगर वह राजपथ, वे चौक गलियाँ
हाथ अन्तिम बार सबको जोड़ आया।

थे हमारे प्यार से जो-जो सुपरिचित
छोड़ आया वे पुराने मित्र,
तुम निश्चिंत रहना।''[8]

नवगीत के अधिकांश कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाकर मानवीय संवेदना को अत्यन्त सजीव एवं सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस सन्दर्भ में नवगीतकार डॉ. जगदीश 'अतृप्त' की कुछ नवगीत पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

''एक फागुन और
तुमको दे रहा हूँ मैं।
हैं वही झरते-बिखरते पात,
उड़ती धूल,
वही सूनी हवा
वे ही पत्रहीन बबूल
तुम्हें जैसा भी लगे पर
एक फागुन और तुमको
दे रहा हूँ मैं।
बीत जाये यों न
कितनी बार यह मौसम
जी उठेंगे हर नये

ऋतुचक्र में तुम–हम
एक स्मृति का दंश तीखा
एक जीवन और तुमको
दे रहा हूँ मैं।''[9]

उपर्युक्त गीत खण्ड में कवि प्रकृति को माध्यम बनाकर हमें जीवन में आशान्वित होने की प्रेरणा देता हैं तथा इसके लिए सम्पूर्ण ऋतुचक्र को निछावर कर देना चाहता है। किन्तु दूसरी तरफ कवि मन प्रकृति के प्रति उदासीन है, उसे पतझर ने झकझोर कर रख दिया है। वह उदास और व्यथित है -

''पियराये पात झर गये,
और मन उदास कर गये
कब का मधुमास ढल गया
कहने को पर पतझर था,
मेरे दुख के दिन भी
आँख चुराकर गुजर गये।
शेष रही सूनी दुपहर
गर्म हवा, ऊबती उमर,
धूल जमी पर्त–पर्त
तिनके–तिनके बिखर गये।''[10]

इसी प्रकार से -

''आग के समुन्दर में
कागज की नाँव
अपना यह गाँव।
दीवारें ढोती हैं
धुएँ की कथा

चेहरों पर पुती हुई
जलन की व्यथा,
बस्ती भर नांच रहा
नंगा आतंक
यहाँ जिन्दगी जैसे
बिच्छू का डंक
सुलगी दोपहरी में
कोढ़ी के पाँव
अपना यह गाँव।''[11]

नवगीतकार विद्यानन्दन राजीव कहते हैं -

''कब क्या लिखे कलम
कल ही तो
उछला एक सवाल।
रंगमंच पर
चीत्कार है
शब्द रसाल नहीं
अचरज क्या
यदि नये गीत में
स्वर-तुक-ताल नहीं
उसमें स्पन्दित है
इस युग का
उठता हर भूचाल।''[12]

मानवीय अभावग्रस्त जिन्दगी का हूबहू चित्र सुधांशु उपाध्याय के नवगीत की पंक्तियों में व्यक्त हुआ है -

''चारों तरफ धुआँ है,
पूरी चमरौटी में केवल
एक कुँआ है।
राजा राजा है, प्रजा प्रजा है
तीन पीढ़ियों का कर्जा है
कन्धे बदले
वही जुआ है।
जेल में लाठी चली है
बर्फ अब जाकर गली है
खेत पर
दंगा हुआ है।''[13]

नवगीतकार को यह बदहाली की स्थिति समग्र राष्ट्र के जनसाधारण के जीवन में दिखाई देती है। यह सब देख कर कवि का मन व्यथित हो जाता है और वह कहने के लिए बाध्य हो जाता है -

''ठंडा खूंन
गरम है नारे
बेच रहे ईमान।
लिये कटोरा
घूम रहा है
सारा हिन्दुस्तान।
फुटपाथों पर
पत्थर रखकर
सिरहाने सोये
कातिल, कातिल
से कहता है

दाग नहीं धोये ?

अपने ही घर में

खोयी है

चेहरों की पहचान।''[14]

नवगीतकार बड़े ही सहज ढंग से मानवीय संवेदना को व्यक्त करते हुए कहता है कि आज की परिस्थितियाँ कितनी बदल गयी हैं, मनुष्य के हृदय में जो उफान आना चाहिए था वह नहीं है। आज का मनुष्य अपने ईमान को बेच रहा है। चारों तरफ बेईमानी, भ्रष्टाचार व्याप्त है। समग्र हिन्दुस्तान में यह संचेतना फैल गयी है जहाँ एक कातिल दूसरे कातिल से पूछता है कि - क्या अभी तक अपने दाग नही धोए। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के ऐसे व्यभिचार, दुमुंहइया व्यवहार से उसकी पहचान खतम हो गयी है और आज वह अपने ही घर में देश में एक अन्जान बनकर रह रहा है। अर्थात धीरे-धीरे मनुष्य की अपने ही घर में उसकी अस्मिता समाप्त हो गयी और नकाबपोशी के चक्कर में उसकी पहचान भी खतम हो गयी, इसी क्रम में कवि आगे कहता है -

''लौटेंगे जल्दी ही घर को

करके वादे दिन

कहाँ खो गये देहाती से

सीधे-सादे दिन ?

मेलों जैसे कुर्ते उनके

खुली हवा सी धोती

गमछों बंधे लोकगीतों के

गुड़, सत्तू औ, रोटी

मिले जिसे

वह दया करे

मुझ तक पहुँचा दे दिन।''[15]

सुरेन्द्र पाठक के शब्दों में -

''भूखे पेट न जिसको
सोने देती थी दादी
उपवासों का वही हो गया
नाती अब आदी
रहने लगे महल में
आंगन गन्ध विराजी है,
खत्म हो गये लेकिन सब संबंध अंतड़ियों के
हींग पीसकर वैसा
दुखते माथे पर रखना
सिर की गोली से होने दे
मन कैसा चिकना
बिजली वाले चूल्हे के ये
दिन ठंडे-ठंडे
याद दिलाते हैं भाभी के दिवस लकड़ियों के।''[16]

शहर की जिन्दगी से घबराया कवि अपनी अन्तर्व्यथाओं को जब संवेदना के स्तर पर जीता है तो उसके मन की व्यथा तथा पीड़ा इस प्रकार व्यक्त होती है -

''बुझ गये घर, छत, मुंडेरे
हुआ सूरज अस्त
अब हम कहाँ जाएँ, किसे टेरे ?
अब नहीं छूती
हवा की उंगलियाँ लहरें
दृश्य प्यासी दृष्टियाँ
किस ठौर जा ठहरें।

जड़े पानी

घाट ताके

हुआ सब कुछ स्याह

अब हम नाव अपनी किधर फेरे ?''[17]

शहर के कोलाहल में व्यक्ति मशीन मात्र बनकर अपनी दैनिक दिनचर्या में जुट जाता है। गुमनाम जिन्दगी जीता हुआ कवि जब अत्यन्त संवेदनाशील और भावुक हो जाता है, तब वह यही कहता है -

''वर्तमान ने मुझे दिया है/ यह सूखा मंजर/ वे सब आये हैं/ भविष्य से आतंकित होकर / सूखे होंठ/ झूलते कन्धे/ बोझ किताबों के/ एक सदी जकड़े पावों को/ एक सदी सर पर /साथी हम चौराहे तक/ फिर सफर अकेला है / शहरों के हिंसक जंगल में/ सूखेसागर में / रोटी मुझे खींच लाई है / इस जलते घर में।''[18]

शहर में रहते हुए मनुष्य आत्म केन्द्रित हो जाता है, दिन-रात वह अपनी आत्मश्रद्धा को तृप्त करने के लिए भटकता रहता है। सुखद सपनों की बातों के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं है -

''नागफनी से घिरे

गुलाबों का क्या करें।

सार छज्जे, छत

पथराव में

जीते हैं घृणा के अलाव में

हम घर की जलती

मेहराबों का क्या करें।

चीलों ने डैनों ने

आसमान घेरा

दुबका है गौरैया-सा

नया सवेरा

गोली की हद में

सुर्खाबों का क्या करें।''[19]

इसी प्रकार शहर में मनुष्य सिर्फ गुमनामी की जिन्दगी को जी रहा है। वह चारों तरफ से दर्द झेल रहा है और प्रतिदिन एक नये सबेरे का इंतजार करता है, किन्तु शहर की वही रोजमर्रा की जिन्दगी, जिसके दाएँ-बाएँ नई घटनाएँ घटित होती रहती हैं। वह हमेशा उसी दुख-दर्द से लिप्त रहता है। उसे कहीं भी मानसिक शान्ति नहीं मिल पाती, कवि कहता है -

''ऊपर नीचे सिर्फ गुम्बदी धुँआं

अंधेरे का।

झेल रहा हूँ दर्द शहर के

नये सवेरे का।

बिस्तर छूटा दुर्घटनाएँ

दाएँ-बाएँ हैं।

शोर-शराबे चायघरों के

मुँह लटकाये हैं।

आँखों में है सर्द पठारों जैसी खामोशी

फैल रहा दायरा फास्फोरस के घेरे का।''[20]

बदलते हुए ग्रामीण परिवेश को देखकर नवगीत कवि अपने आपको यह कहने से रोक नहीं पाता है -

''नगर की बेहद नशीली

नित्य आयातित हवाएँ

गाँव को भरमा रही हैं,

पीढ़ियों की

पूर्व अर्जित सम्पदाएँ
गिद्ध-दृष्टि जमा रही हैं
लोग मिट्टी की महक को
आज देने जा रहे
वनवास
चुप कैसे रहूँगा ?''[21]

राजेन्द्र गौतम इस व्यथा को व्यंग्य की भाषा में प्रस्तुत करते हैं -

आओ मिलकर
आज करें हम
गिद्धों का आयात।
सिद्धान्तों की
लाशों का भी
कुछ तो हो उपयोग,
मुश्किल से मिलते हैं
ऐसे महाभोज-संयोग
बचे भेड़ियों की
बस्ती में
क्यों ये आदम जात ?
छोटी-सी
डाली पर भी क्यों
शेष रहे हरियाली
सभी दिशाओं को
डंस ले यह
दावानल की व्याली
संध्या -

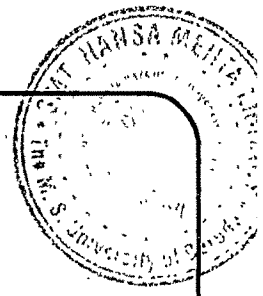

आंतों की सौदागर
रक्त सनी है प्रात।[22]

नवगीत कवि रमेश गौतम लिखते हैं -

''एक कोना ढूँढ़ती फिरती
अभागी
आँगनों के बीच
माँ तुलसी हमारी
छीन ली आकाश चुम्बी
होटलों ने
द्वार से पीपल पिता की
भूमि सारी
जो बना आदर्शवादी
बस्तियों में
फिर उसे बनवास
वर्षों का मिला
नयन में नीली प्रतीक्षा बाँधकर
अयोध्याएँ हो गई हैं अब शिला।''[23]

व्यक्ति जब अपने वजूद से अलग-थलग पड़कर अपनी पहचान ही खो देता है तब अपने इर्द-गिर्द उसके आत्मीय सम्बोधन भी जैसे आडम्बर युक्त होकर पहचान की सीमा से दूर हो जाते हैं। उमाशंकर तिवारी के नवगीत की प्रस्तुत पंक्तियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं -

''सफर के वक्त मेरे साथ मेरा घर नहीं होता
कभी शीशा चिटकने का भी मुझको डर नहीं होता
सफर में सिर्फ चलती साँस, जिन्दा पाँव ही होते

कोई मंजिल, कोई भी मील का पत्थर नहीं होता।

यही पैगाम लेकर मैं कभी,

घर से निकल जाता

तो हमारे सामने होते हजारों आइना चेहरे

शिखर को चूमते चेहरे,

खुशी से झूमते चेहरे।''[24]

अनूप अशेष की निम्न पंक्तियों में आत्मीय संस्पर्श की अत्यन्त ही अनोखा दृश्य दिखाई पड़ता है -

''कितनी बार अंधेरा जागा

कोहरा कितनी बार

खाली धुआँ मुंडेरी पकड़े

रोया कितनी बार।

अक्सर घर में रही रसोई

बिना गन्ध के सोयी

बच्चों की आँखों में

अम्मा के आँचर में रोयी।

कितनी बार भोर की किरनें

आयीं भूख पखार।

अपने दरवाजे देहरी पर

दिन की दीठ उतार।''[25]

उपर्युक्त पंक्तियों में गीतकार ने विपन्नता की उस संवेदना को व्यक्त किया है है जो आम आदमी के अन्तर्मन को झकझोर कर रख देती हैं। इसी अन्तर्मन के संस्पर्श में यश मालवीय जी कहते हैं -

''पिता बूढ़ा है कि

कुछ दिन का कहो मेहमान सा है

रात के काले पहर में
एक आतिशदान-सा है
यह अँधेरा और गहरा
और भी गहरा
बहुत मुश्किल से
उजाला एक भी आखर लिखेगा
मौन दरवाजा भले जर्जर
कि घर की शान-सा है।''[26]

अशोक 'अंजुम' की निम्न नवगीत पंक्तियों में आत्मीयता की झलक देखने को मिलती है -

''हमीं जब संभले नहीं तो
आँधियों से क्या गिला।
टूटना ही था किला।
काम अपने नाम के थे
रास्ते भी वे गलत
और सोचों पर जमीं थी
धूल की मोटी परत,
और उस पर साथ अपने
रहजनों का काफिला।
टूटना ही था किला।''[27]

या फिर -

''एक-एक कर पीछे
छूट गये सारे
वे दुआ सलामों के

बोझिल सम्मोहन
बर्फीली खूहों में
तोड़ चुके दम हैं
रोमिल खरगोशों से
परिचित सम्बोधन
एक अजनबीपन ही भरा
हर नजर में।''[28]

आत्मीय संवेदना को झंकृत कर देने वाली परिस्थितियों का निर्माण आज के वर्तमान समय में हो गया है। हर व्यक्ति सशंकित हैं, आपसी प्रेम-भाव तक लिप्त हो गए और दुवा-सलामों की भी एक जो औपचारिक बन्धन था वह भी समाप्त हो गया। आज परिचित सम्बोधनों में भी एक अजनबीपन दिखाई पड़ता है। उसकी झलक ऐसे परिचित लोगों की नजरों में स्पष्ट रूप से उभर आता है, कुछ यही भाव निम्न पंक्तियों के गीतों में व्यक्त हुआ है -

''घर के हैं हालात बुरे कैसे घर जाऊँ
उलझे हैं अरमान अरे कैसे सुलझाऊँ ?
दादा-दादी पके पान से
जीर्ण-शीर्ण जर्जर मकान से
अम्मा-बाबू उम्र ढले हैं
भाग-दौड़ के इम्तहान से
'अपना' कहते जिन्हें शान से
बैर किये हैं वही जान से
अपने-अपने स्वार्थ भले हैं
बन बैठे हैं सब महान से।
सबके हैं अन्दाज खरे कैसे समझाऊँ ?
घर के हैं हालात बुरे कैसे घर जाऊ ?''[29]

नवगीत में केवल पीडा को ही अभिव्यक्ति नहं मिली अपितु मानवीय जीवन की समग्र उथल-पुथल इसमें व्यक्त हुई है। आज मनुष्य यंत्र की तरह अपना जीवन जी रहा है, भीर के इस शोर में आदमी बिल्कुल अकेला हो गया है -

''धूप के हुए
न कभी छाँव के हुए
हम जब भी हुए
शकुनि-दाँव के हुए।
लाक्षागृह
षडयन्त्रों के सुघड़ बनाये
अपने ही
स्वजन हमें शत्रु नजर आये
शहर के हुए
न कभी गाँव के हुए
धूप के हुए
न कभी छाँव के हुए।''[30]

सामाजिक परिवेश में दृष्टपात किया जाय तो हमें अक्सर यह दिखाई पड़ता है कि गैरों से उतनी परेशानी नहीं है जितनी अपनों से है। समाज में आज अपने ही अपनों का गला घोंट रहे हैं, नित्य प्रतिदिन एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए षडयन्त्रों के जाल बुन रहे हैं और अपने ही शत्रु बनकर सामने आ रहे हैं। ऐसे में गीतकार वैयक्तिक संवेदना को इस धरातल पर झंकृत करता है कि आत्मीय संवेदना जागृत हो उठती है और यह सोचने के लिए विवश हो उठती है कि आज हमारी परिस्थिति क्या है ? हम कहीं के नहीं हैं ? हमारे संबंधों में इतनी दरार आ गई है, हम अपने आपको न शहर का पाते हैं और न ही गाँव का पाते हैं। अर्थात चारों तरफ मानवीय संवेदना शून्य सी हो गयी है। यदि कुछ बचा है तो वह दूसरों को दबाकर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति। इसी संदर्भ में एक गीत ध्यातव्य है -

''घरों से
उठती भमक-सी
छतों से उठता धुआं है ?
पत्तियाँ गुमसुम
शहर में आँधियों के सिलसिले हैं
देशद्रोही हो गये मन्दिर
बने घर घर किले हैं,
हर किसी की आँख में
अवसाद का दिखता धुआँ है।
इस समय को क्या हुआ है ?''

इसी प्रकार से -

''मन है एक दर्द है अनगिन
किससे कहें व्यथा
भीतर सबकुछ टूटा-टूटा
बाहर जुड़ा-जुड़ा।
भूखा पेट रहा दौड़ता
मारे-मारे फिरे
शहर तक पाँव भगा लाये
बहराये सब रिश्ते नाते
दस्तक थकी-थकी
भाल पर चोट लाये,
विज्ञापन सी हुई जिन्दगी
खोया अपनापन
फटी जेब में जैसे कोई
कागज मुड़ा-मुड़ा।''[32]

आन्तरिक दबाव और मुश्किलों के बीच टूटना-पिसना भर व्यक्ति की नियति रह गई है -

लगी हुई राशन में
भूख की कतारें
कर्जे की सुरसा को
किस तरह उतारें
कितने दुख दर्दों की गीता है आदमी,
रेप लिए जीवन में इतने अंधियारे
बढ़ते कोलाहल में
अब किसे पुकारें ?
अपना ही खून आज पीता है आदमी।[33]

या फिर -

यह शहर जिसको
हृदय में प्यार से मैंने बसाया
घुटन बनकर रह गया है
जिन्दगी के वास्ते
चलूँ इसको छोड़ अपना गाँव ले लूँ।
छोड़ता हूँ साँस
तो लगता है कि जैसे
धुआं प्राणों से निकलता है,
बात करता हूँ जब किसी से
कण्ठ में तब दर्द का
पत्थर फिसलता है
आधुनिकता की सभी वेसाखियाँ
जो मिली मुझको

ग्रहण अब वे बन गई हैं
जिन्दगी के वास्ते
चलूँ इनको छोड़, अपने पाँव ले लूँ।[34]

ग्रामीण परिवेश में नवगीतकार अधिक ही संलग्न हुआ जान पड़ता है। शहरी कृत्रिमता, बनावटीपन से वह बार-बार ऊब जाता है और प्रायः अपने गाँव की बातें करने लगता है -

''आँधियों में उड़ गया परचा
इस शहर में
गाँव की चरचा।
क्यों न चिट्ठी
घर तलक पहुँची
क्यों न पहुँचा डाकिया द्वारे ?
हाथ से छूटे अचानक ही
गैस के रंगीन गुब्बारे !
प्यार में अन्धी प्रतीक्षाएँ
कब कहाँ पर
हाथ मलती
बाँध हैं आँचल में चबैना कुछ
दो मशालें रात भर जलती !
ये दधीचि हड्डियाँ कहतीं
क्या नहीं, इसने यहाँ खरचा।''[35]

या फिर -

''ये शहर होते हुए से गाँव
पहचाने नहीं जाते।

लोग जो फौलाद के मानिन्द थे,
अब रह गये आधे
दौड़ते-फिरते विदूषक से
मुरेठा पाँव में बाँधे,
नाम से जुड़ते हुए कुहराम
पहचाने नहीं जाते।
अब न वे नदियाँ, न वे नावें,
हवाएँ भी नहीं अनुकूल
हर सुबह होती किनारे लाश,
पानी पर उगे मस्तूल
आँधियों के ये समर्पित भाव
पहचाने नहीं जाते।''[36]

आधुनिकता के इस दौर में सब कुछ बनावटी लगता है। यहाँ तक कि रिश्ते-नाते, घर-परिवार, कुटुम्ब-समाज आदि सभी में वह भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। यथा -

''हम ठहरे गाँव के
बोझ हुए रिश्ते सब
कन्धों के, पाँव के
भेद-भाव, सन्नाटा
ये साही का काँटा
सीने के घाव हुए
सिलसिले अभाव के।''[37]

इसी क्रम में यह नव गीत देखिये -

''सौंधी गंध उठी माटी से
बूंदे बरस गईं
पत्तों पर ठहरी शबनम ने

जितने गीत लिखे
बूँदों के दर्पण में देखा
अनगिन चित्र दिखे
खुद से ही मिलने अनजाने
बूँदे तरस गई
जलतरंग सी बजी हवा में
गमक उठी माटी
पंछी की स्वर लहरी से फिर
गूँज गई घाटी
सिहर-सिहर जाता है मन ये
बूँदें बरस गईं।''[38]

डॉ. शंभुनाथ सिंह ने अपने गीतों में ग्रामीण परिवेश की सुन्दर परिकल्पना की है। ग्रामीण जीवन में हवाओं का रुख, पारिवारिक वातावरण, सूनापन लिए जीवन की अंतरिम संवेदना, गाँव की पगदण्डी वाले रास्ते मानवीय संदर्भो को छू लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सब आत्मीय संबंध की आड़ लिए एक कृत्रिमता का बोध कराती हो।

यथा -

''छिप छिपकर चलती पगदण्डी वन खेतों की छाँव में,
अनगाये कुछ गीत गूँजते
हैं किरनों की हास में,
अकुलायी सी एक बुलाहट
पुरवा की हर सांस में।
सूनापन है उसे छेड़ता, छू आँचल के छोर को
जलखाते भी बुला रहे हैं बादल वाली नाव में।
रुनझुन बिछिया झींगुरवाली
किंकिनि ज्यों बक-पांत है,

स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात है।
पहरू से कुछ पीली कलगी वाले पेड़ बबूल के
बरज रहे हैं, पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाव में,
अपना ही आँगन क्या कम जो चली पराये गाँव में।''[39]

पारिवारिक संदर्भ :

भारतीय संस्कृति में 'परिवार' की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। प्रायः सभी नवगीतकारों ने अपने गीतों में पारिवारिक सन्दर्भ का बखूबी वर्णन किया है। नवगीतत का एक बहुत बड़ा हिस्सा उस गमगीन और त्रासद भरी संत्रस्त पारिवारिक जिन्दगी का है जो समाज के द्वारा सदा उपेक्षित और ग्लानि का शिकार होती रही है। इसमें नौकरी की तलाश में दर बदर दौड़ता, ठोकर खाता हुआ पढ़ा-लिखा नौजवान है, व्यवस्था का कहर है, काम के लिए भटकता हुआ श्रमजीवी है, विधवा पत्नी, बूढ़ी माँ की अभावग्रस्त जिन्दगी है, दम घोंटने वाली हवा में साँस लेता हुआ आम आदमी है। आधुनिक पीढ़ी है जो बार-बार क्रान्ति या आन्दोलन के लिए उकेरी जाती है और हर बार आम चौराहे पर जिसका कत्ल हो जाता है। अधिकतर नवगीत कार कवियों ने ऐसे परिदृश्यों को अपनी रचनाओं में समेटा है।

यश मालवीय पिता की अहमियत को गीतांकित करत हुए कहते हैं -

''आज भी सौ जख्म जिन्दा
अधमरे – से हैं जेहन में
पर सवेरा गूँथता है
हर कली में, हर किरन में
सुन रहा ऊँचा कि फिर भी
आहटों पर कान–सा है।
पिता बूढ़ा है कि
कुछ दिन का कहो मेहमान सा है

रात के काले पहर में

एक आतिशदान–सा है।''[40]

माँ के सन्दर्भ में सुधांशु उपाध्याय कहते हैं -

''सुबह शाम खटती है

बेचन की माँ

इंच–इंच घटती है

बेचन की माँ।

नागिन सी उठती है

पेट में लहर

आँतों में पलता है

भूख का जहर,

आगे से हटती है

बेचन की माँ।

रेलों से कटती है / बेचन की माँ।''[41]

परिवार की व्यथा का परवान करते हुए श्याम सुन्दर दुबे कहते हैं -

''छज्जों चढ़कर

अड़–बड़ बोले

तपे दुपहरी जेठ की।

बजरी पीटे

गिट्टी फोड़े

गाँव गिरानी

सड़क को जोड़े।

शीतल पाटी

मालिक बैठे

रैयत गोट चपेट की।

फूटी बटुली

टूटा चूल्हा

ऋण की पाग

लपेटे दुल्हा।

सूखा बाढ़

अषाढ़ों चढ़ गये

घर गिरथी अलसेट की।''[42]

हृदय चौरसिया एक संघर्षरत परिवार के थके हारे और टूटे हुए नौजवान बेटे की खीझ को ज़ज़बाती अन्दाज में अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं -

''ओ पिता

जनमा कर तुमने

की क्यों

ऐसी भूल

दी सरिता ऐसी

जिसमें

न जल

न कूल

पल-पल बीता

जैसी दहकती चिता।

गिरवी है घर-आँगन

बिका आसमान

जाने कब साँझ हुई

और कब विहान

ठाँव-ठाँव

बिखरी है
टूटी अस्मिता।
ओ पिता!''[43]

टूटते हुए पारिवारिक अस्तित्व और उसकी त्रासदी को व्यक्त करते हुए गुलाब सिंह लिखते हैं -

''बप्पा सिर पर हाथ धरे हैं
माँ बैठी मन मारे।
टूटी छत के तले
भाइयों के -
अन्तिम बंटवारे।
घर के दिन सो गये
शाम की
सिली पिछौरी साटकर
बच्चे,
जैसे
खुले महाजन के खातों के पन्ने
बूढ़े लगते हैं
मुनीम के अद्धे और पवन्ने।
बहन, चौधरी की मर्जी से
बिरादरी की टाट पर।''[44]

अखिलेश कुमार सिंह की इन नवगीत पंक्तियों में एक अबला नारी की दैनन्दिनी से जुड़ी उसकी मनोव्यथा की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है -

''उपले पाथेगी,
बासन मांजेगी,

पारबती अपने दिन
यों ही काटेगी।
आँखों में
जंगल या
पांतर होगा
माथे पर
लकड़ी का
गट्ठर होगा,
गुमसुम आयेगी
गुमसुम जायेगी
सूरज या बादलकी
और न ताकेगी।''[45]

कुमार शिव ने जीवन की जटिलताओं, गरीबी, विवशता और इन सब से उत्पन्न दयनीय दशा को अत्यन्त ही सजीवता से संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान की है, जिन्हें पढ़कर या सुनकर अनायास ही दृष्टिपटल पर एक दृश्य घूम जाता है -

''बहिना की शादी में
रेहन रख दिया था जो
कर्जे में डूबा आकण्ठ वह मकान
माँडने कढ़ा हुआ।
लालटेन का प्रकाश
रात-रात भर जगना
पर्चों की तैयारी।
बाबू जी की मिर्गी
अम्मा का गठिया
लम्बी असाध्य बीमारी।

कितने संघर्ष-भरे दिन इसमें बीते हैं।

बावजूद आँधी तूफानों के

यह मकान

गाँव में खड़ा हुआ।''[46]

नवगीतकार प्रेम तिवारी ने अपने नवगीत में एक परिवार की बदहाली और उसके घर की जर्जर हालत का बयान किया है -

''नीम - हकीम

मर गया कब का

घर-आँगन बीमार

बाबूजी तो

दस पैसा भी

समझे हैं दीनार

ऊब गई हूँ

कह दूँगी मैं ऐसी वैसी बात।

दादी ठहरी भीत पुरानी

दिन-दो दिन मेहमान

गुल्ली-डण्डा

खेल रहे हैं

बच्चे हैं नादान,

टूटी छाजन

झेल न पायेगी अगली बरसात।''[47]

नवगीत में बदलते हुए मानवीय संबंधों को बखूबी चित्रांकित किया गया है। देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' को हर रिश्ते का रक्त जमा-जमा दिखाई देता है। उनका मन बहुत बेचैन और उलझनों में घिरा हुआ है -

''आज के सवालों को
अनजाने कल पर हम
यों कब तक टालते रहें ?
गुजरी तारीखों के पन्नों से
सारे सपने फटे
जीते हैं अनचाहे क्षण को हम
पिछले सन्दर्भों की
राह से बिना हटे
अभिनय के साँचों में
भीतर की ऋजुता को
यों कब तक ढालते रहें ?''[48]

नवगीतकार आने वाले समय के प्रति आशंकित और भयभीत है। इसीलिए वह हमें सचेत करते हुए कहता है -

''आने वाले हैं
ऐसे दिन आने वाले हैं
जो आँसू पर भी पहरे
बैठाने वाले हैं,
आकर आस-पास भर देंगे
ऐसी चिल्लाहट
सुन न सकेंगे हम अपने ही
भीतर की आहट
शोर शराबे
ऐसा दिल दहलाने वाले हैं।''[49]

इसी संदर्भ में श्री कृष्ण शर्मा कहते हैं -

''हे पिता ! यदि हो कहीं
तो क्या लिखूँ तुमको
बस यही जो जिस तरह था
उस तरह ही है।''[50]

दिनेश सिंह ने 'रसोइये का गीत' में अम्मा और बहना के प्यार की दुर्लभ स्थिति को चित्रित किया है। उनके गीतों की यह विशेषता है वह पाठक या श्रोता को संवेदना के स्तर पर आत्म विभोर कर देते हैं। यथा -

''दुख मेरे मैके से आया
सासू का बड़बोला जाया
सुख की खेती जोते-बोये
बासंती आठ पहर रोये
'भुखिया' ना अंगरेजी जाने
चूल्हे की रोटी पहचाने
सेन्दुर के रंग सनी बड़ की
तानों की पिचकारी ताने
रंग धुले छिन-छिन पर काया
जूठी थाली जैसी माया
माई की सुधि हिया करोये
बासंती आठ पहर रोये।''[51]

रामदरश मिश्र जी कहते हैं -

''यह मेरा गाँव नहीं
कहाँ आ गया हूँ मैं
टूटे पेड़ों का सन्नाटा
उग रहा हवाओं में काँटा

पक्की दीवारों के नींचे
मिट्टी-सा दब-दबा गया हूँ मैं।''[52]

उमाकान्त मालवीय लिखते हैं -

''निगल गये पनघट को
सड़कों के नल
बेबस, बेपर्द देह, दृष्टि उठी जल
आँगन-दालानों को
तरस गये घर
खोली-दर खोली से घर गये उधर।''[53]

सूर्यभानु गुप्त कहते हैं -

''खण्डहर हो गये गाँव
भूतों का वास हुआ
बप्पा भइया, काका
हर नाता घास हुआ।''[54]

श्याम सुन्दर दुबे लिखते हैं -

''आँधियाँ चटका गयी हैं
बाँह जब से
हो गयी गुमसुम हमारे द्वार की जामुन
कटे बाजु से पिता के
बंट गये आँगन
बहुत भारी है तभी से माँ का मन
आँच सूने काँच की
पी गई है
सदा नीर हंसी को
चेहरे बचे हैं रेत।''[55]

इसी क्रम में आगे वे लिखते हैं -

पाहुन गाम की कहो
गुबरीले हाथों में
झाड़ू थामे सीता
भीगत पसीने में राम की कहो!
पहुँच सकी है क्या कुछ
वहाँ गली-गलियारे
पारिजात की भीनी गन्ध
क्या पीले पपड़ाये
होठों का जुड़ पाया
जीते छन्दों से सम्बन्ध
बहती है गर्म नदी
तेज दहकता सूरज
कहो तनिक
उसी सूरज घाम की कहो।[56]

नवगीत में सुखद पारिवारिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों को प्रतिबिम्बित करने वाले परिवेश में अवगुण्ठित करने वाली बहुएँ हैं। महावर रचे पॉव हैं, मेंहदी रचे हाथ हैं, पान रचे होंठ हैं, कजरारी आँखें हैं, सिन्दूर बसी माँग है, लहंगा फरिया, ओढ़नी, चूनर, करधनी, बिछुआ, कंगन , नथुनी, नपुर, हंसुली और पायल-बैंजनी जैसे साजो सामान हैं। आम के नीचे झूंले झूलती गाँव की किशोरियाँ हैं, भेड- बकरियों के झुण्ड हैं, चरवाहे हैं, बंशी और मादल के गूँजते स्वर, कजरी, विरहा, रसिया, होली के गीत गाते नौजवान देहरी पर बैठी हुई काली चाची और भी बहुत कुछ है जो गाँवों की सुखद पारवारिक संस्कृति की याद ताजा करते हैं। गाँव के परिवेश में पारिवारिक सम्मोहन का स्वर उभारते हुए अनूप अशेष कहते हैं-

''गाँव हमारा
परदादा की मोह-मुहब्बत का

पान–पतौखी

तीज–कजलियों

रिश्तों सोहबत का

अपनी सीधी चाल चलन है

यहाँ न भरमाना

भैया

शहर नहीं आना !

गाँव हमारा

अम्मा–बाबू की आशीषों का

हंसी–ठिठोली

पीहर–सासुर

चेहरों–शीशों का

शील शरम सब यहाँ बिकाऊ

बम्बइया बाना

भैया !

शहर नहीं आना।''[57]

इस गीत में पारिवारिक का आन्तरिक स्नेह और प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। इसी तरह के परिवार का यह दृश्य देखें जिसमें गुलाब सिंह ने बड़ी मार्मिकता से एक-एक चित्र उकेरा है और जिसे पढ़ते ही दृष्टि पटल पर एक दृश्य उपस्थित हो जाता है।

''हरे लहरे खेत से टहकारती सोना पतारी

ले रहे बाबा हरी का नाम

खींचती अम्मा 'पकड़कर कोर चादर की

उठी दीदी, जगीं अंगड़ाइयाँ

खनकता आँगन संवरते बरतनों से

लीपती चौका–ओ

सारा भोर–सी यों भौजाइयाँ
दोहनी में धार, तार सितार के बजते
सुबह के संगीत होते काम।''[58]

बाबा नागार्जुन का भी यह गीतांश देखें जिसमें बहुत दिनों के बाद घर-परिवार में आयी खुशहाली का बयान अत्यन्त मार्मिक रूप से किया गया है।

''बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने देखी जी भर
पकी सुनहली फसलों की मुस्कान
बहुत दिनों के बाद
अबकी मैं जी भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियों की
कोकिल कंठी तान
बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर सूंघे
मौलसिरी के ढेर–ढेर से
ताजे टटके फूल
बहुत दिनों के बाद।
अबकी मैंने जी भर
तालमखाना खाया
गन्ने चूसे जी भर
बहुत दिनों के बाद।''[59]

अनूप अशेष का एक और नवगीत खण्ड देखें जिसमें घर-परिवार और गाँव की नैसर्गिक सुन्दरता और खुशहाली की चर्चा की गई है -

माँ का प्रतिबन्ध मेरा गाँव
मन का अनुबन्ध

मेरा गाँव।

नइइर–से हरे खेत

पीहर–सी

मेड़

बोलता प्रतीकों में

बरगद का पेड़

पान का प्रबन्ध मेरा गाँव

मन का अनुबन्ध

मेरा गाँव।[60]

उमाकान्त मालवीय लिखते हैं -

भइया को देती अंकवार

सखियों के रूँधे हुए बैन

प्रियतम संग बीती जो रैन

दोनों ही करते बेचैन

दो सुधि में सखि का है

जीना दुरवार

भाभी को देती अंकवार।[61]

अपने निबंध **'कविता क्या है'** ?[62] में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि 'प्रकृति का उन्मुक्त लोक महानगरो में नहीं मिलता और उसके बगैर रहा नहीं जाता।' तो प्रवृत्ति और प्रकृति के बीच मानव अनुभूति के संश्लिष्ट चित्र, उन दृश्यों की यादें, उन अनुभवों को पुनः पाने की लालसा और तब गावों, कस्बों की गोद और गलियों में बच्चे की भांति दुबकने की उत्कण्ठा, महानगरीय सभ्यता के आवरण को भेदकर नैसर्गिक जीवन और निश्छल आचार की ओर प्रेरित करती है। नवगीतकार सत्यनारायण दुबे को भी जब अपना बचपना याद आता है तो लिखते हैं -

''बच्चे जैसे
कथा कहानी
परी-देश के
स्वप्न सरीखे
दीखे, खुल-खिल
हंसते दीखे
जैसे झिलमिल
चाँद सितारे
जैसे, कलकल
बहता पानी
इनकी तुतली
तुतली भाषा
मेवा मिसरी
दूध बताशा
काँच रबड़ के
खेल-खिलौने
गुड्डे गुड़िया
राजा रानी।''[63]

नवगीत में दाम्पत्य प्रेम उद्‌भावना के अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं -

''टूटे आस्तीन का बटन
या कुर्ते की खुले सियन
कदम-कदम पर मौके याद तुम्हें करने के
अरसे से बदला रूमाल नहीं
चाभी क्या जाने रख दी कहाँ
दर्पण पर सिन्दूरी छींट गही

चीज नहीं मिलती रख दो जहाँ

चौके की धुंआती घुटन

सुग्गे की सुमरिनी रटन।''[64]

नवगीत की जमीन वस्तुतः मानवीय संबंधों की संवेद्य भावनाओं पर आधारित है। संवेदनाएँ मनुष्य की अंतस्थ विचारशरणियों को प्रभावित करती हैं, मनुष्य के सारे आचार, व्यवहार तथा उसकी गति विधियाँ एवं उसके क्रिया कलाप उसके मन की संवेद्य भावनाओं से स्पर्शित अवश्य रहती हैं। संवेदनाओं का एक बहुत विस्तृत आकाश है - जिसमें - भावनाएँ, कल्पनाएँ तथा मन के सुकोमल निर्धारण सन्निहित रहते हैं। नवगीत की धुरा इन्हीं मानवीय संवेदनाओं पर अधिक आधारित है जहाँ सजीव और निर्जीव चल एवं अचल स्थिर तथा अस्थिर सभी प्रकार के परिदृश्य और संबंध वर्ण्य बनकर प्रस्तुत होते हैं जैसे - राष्ट्र मातृभूमि, पवित्र नदियाँ हिमालय, गोवर्धन, गिरिराज, गाँव, शहर, घर, आँगन, अटा, अटारी, जैसे स्थिर बिम्ब भी इन नवगीतों में संवेदना के स्तर पर व्यक्त होकर हमारे अपने नीति, आस्था, श्रद्धा, समर्पण और प्रेम की अभिव्यक्ति बनकर सामने आते हैं।

गीतों में संवेदनाओं का संसार परिकल्पनाओं एवं वायवी भावनाओं पर अधिक केन्द्रित रहा है, जहाँ मनुष्य अपनी अन्तस्थ आस्थाओं और श्रद्धाओं को प्रकारांतर से उसे व्यक्त करता रहा है। गीतों में अधिकांश वर्ण्य गगनचारी परिकल्पनाओं के रंगीन और मनमोहक परिदृश्यों से संलग्न रहे हैं, जहाँ प्रेम में संयोग के सौख्य भी हैं और वियोग के अवशाद भी। जहाँ सुख-चैन के मदरिम क्षण भी हैं तो दुख-दर्दो की आंसू भरी कथाएं भी हैं, किन्तु ये सब नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों तक केन्द्रित रहे हैं।

नवगीतों का कथ्य और वर्ण्य अधिकांशतः यथार्थवादी जमीन पर अंकुरित हुआ है, जहाँ संवेदना के जीवन्त क्षण अनुभव किये जा सकते हैं। जहाँ केवल नायक-नायिकाओं के मध्य प्रेम व्यापार ही नहीं चलता बल्कि नवगीतों के परिदृश्य में माँ, पिता, पितामह, नारी, पुरुष, बेटी, बहन, पड़ौसी, बच्चे, बूढ़े, सगे-संबंधी और ढेर सारे आत्मीय रिश्तों के विस्तृत संबंध हैं जो यथार्थवादी जीवन्त तथ्यों पर आधारित हैं।

पूर्व पृष्ठों पर हम नवगीतों में व्याप्त इन संवेदनाओं के विविध परिदृष्यों एवं आयामों पर दृष्टपात कर चुके हैं तथा संवेदनाओं के धरातल पर भी नवगीतों के विवध रूप और वैविध्यपूर्ण प्रभावानिवत का भी अध्ययन मनन कर चुके हैं और यह तथ्य स्थापित करने में समर्थ हुए हैं नवगीत की जमीन मानवीय संबंधों की सुकोमल संवेदनाओं पर आधीरित है, जहाँ मेले हैं, उत्सव हैं, विवाह-शादियाँ हैं, बारात हैं, रंगोत्सव हैं, मिलन के सौख्य है, जहाँ हंसी है, खुशियों के अट्हास हैं, आनंद और प्रमोद के मदरिम आकाश हैं जहाँ पिता के प्रति श्रद्धार्पित सुकोमल भावनाएं हैं, मां के प्रति अनंत आस्थाओं के समर्पण हैं, बेटियों के प्रति हृदय के खुले आकाश हैं, बच्चों के प्रति मन की गहराइयों के अनुराग रंजित विस्तृत भाव हैं तथा जहाँ पर इन हंसी-खुशी के क्षणों के साथ-साथ करुणा है, दुख है, अवसाद है, आत्मीय जनों के वियोग हैं, शोषण हैं, दमन हैं, जिन्दगी की जुझारु लड़ाई है, आक्रोश है, आक्रमण है और जिन्दगी जीने के लिए क्षण-क्षण युद्ध करती हुई अजेय मन की आस्था भी है।

इस तरह इस अध्याय में नवगीतों में अन्तर्हित संवेदनाओं के विविध आयाम और मानवीय अनुभूतियों के विस्तृत पटल पर आम आदमी की आस्था, विश्वास और श्रद्धा के संकल्प को व्याख्यायित किया गया है।

*

सन्दर्भ सूची

1. ओम प्रभाकर : नवगीत दशक-2, पृ.65
2. कुमार शिव : नवगीत दशक-2, पृ. 25
3. उमाशंकर तिवारी : वही, पृ.71
4. वही, पृ. 72
5. कुमार रवीन्द्र : नवगीत दशक-2, पृ. 86
6. जगदीश श्रीवास्वत : नवगीत अर्द्धशती, पृ. 108
7. किसन सरोज : नये-पुराने, सितम्बर - 1998, पृ. 85
8. किसन रसोर : भव्य भारती (1997), पृ. 4
9. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 102
10. वही, पृ. 104
11. रामेश्वर दास वैष्णव : नवगीत अर्द्धशती, पृ. 221
12. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 227
13. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 273
14. जगदीश श्रीवास्तव : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 109
15. सूर्यभानु गुप्त : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 293
16 नवगीत अर्द्धशती : पृ. 278
17. ओम प्रभाकर : नवगीत दशक-2, पृ. 67
18. डॉ. विनोद निगम : भव्य भारती - नवगीत शिखर (1999), पृ. 32
19. माहेश्वर तिवारी : नवगीत दशक-2, पृ. 122
20. वही पृ. 127
21. विद्यानन्दन राजीव : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 228
22. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 202
23. भव्य भारती : नवगीत शिखर (अंक 1999), पृ. 39
24. वही पृ. 39
25. नये-पुराने, गीत अंक - 4 (1999) पृ. 108
26. भव्य भारती : नवगीत शिखर (अंक 1999) पृ. 27
27. नये-पुराने, गीत अंक 4 (1999) पृ. 113
28. राजेन्द्र गीतम : नवगीत दशक - 3 पृ. 31
29. मधुमती, मई 1999 पृ 52
30. डॉ. इशाक अश्क : नवगीत अर्द्धशती, पृ. 66
31. ओम निश्चल : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 55
32. श्याम निर्मम : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 250
33. राजकुमारी रश्मि : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 200
34. उद्‌भान्त : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 57
35. डॉ. विष्णु विराट : सार्थक (सं. मधुकर गौड) अक्टूबर 1999, पृ. 21
36. डॉ. उमाशंकर तिवारी : नवगीत अर्द्धशती पृ-. 63

37. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 124
38. नये-पुराने, सितम्बर 1998, पृ. 82
39. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 236
40. यश मालवीय : भव्य भारती, नवगीत शिखर (1999) पृ. 27
41. सुधांशु उपाध्याय : नवगीत दशक-3, पृ.56
42. श्याम सुन्दर दुबे : वही पृ. 256
43. हृदय चौरसिया : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 302
44. गुलाब सिंह : नवगीत दशक-2, पृ 103
45. अखिलेश कुमार सिंह : नवगीत दशक-3, पृ 26
46. कुमार शिव : नवगीत दशक-2, पृ 25
47. प्रेम तिवारी : नवगीत अर्द्धशती : पृ. 154
48. नवगीत अर्द्धशती : पृ. 126
49. माहेश्वर तिवारी : भव्य भारती नवगीत शिखर (1999) पृ. 43
50. श्री कृष्ण शर्मा : आजकल, जुलाई 1978
51. दिनेश सिंह : नवगीत दशक-3, पृ.121
52. डॉ. रामदरश मिश्र
53. सुबह रक्त पलाश की, पृ. 35
54. सूर्यभानु गुप्त : रविवार 3, दिसम्बर 1978
55. नवगीत, अप्रैल 1983
56. साप्ताहिक हिन्दूस्तान 22 जुलाई 1979
57. नवगीत दशक-2, पृ. 39
58. धर्मयुग-अंक : अगस्त 1984, पृ. 33
59. नागार्जुन : नवगीत अर्द्धशती, पृ. 145
60. नवगीत दशक-2, पृ. 44
61. मेंहदी और महावर, पृ. 30
62. चिन्तामणि भाग-1
63. भव्य-भारती : नवगीत शिखर - 1999, पृ.22
64. उमाकान्त मालवीय : एक चावल नेह रींधा, पृ. 18-19